

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

नमस्कार का सीधा अर्थ है – 'हे प्रभो! जिन वस्तुओं को भूल से मैं अपना मानता था, वे तुम्हारी हैं; स्वयं मैं भी तुम्हारा हूँ।' इस प्रकार ममता और अहंकार के निकलते ही भगवद्-भाव की अनुभूति होने लगती है। वह अनुभूति केवल बौद्धिक अथवा मानसिक नहीं रहती, समस्त इन्द्रियों और रोम-रोम से उसका अनुभव होने लगता है। तब अपना अन्तःकरण, शरीर एवं सारा जगत् भगवान् का और भगवन्मय दीखता है।

आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर
वृन्दावन

नमस्कार मात्र से भगवत्प्राप्ति



नमस्कार मात्र से भगवत्प्राप्ति

संकलन

आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर

वृन्दावन

श्रीगुरुपूर्णिमा के पावन पर्व पर

त्वदीय वस्तु गोविन्द !
तुभ्यमेव समर्पयेत् ।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆❖◆❖◆❖◆❖◆❖◆

डा० डी.सी. राव
के
सौजन्य से
आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर
आनन्द वृन्दावन, वृन्दावन
द्वारा
वितरणार्थ प्रकाशित

मुद्रण–संयोजन
श्रीहरिनाम प्रेस, लोई बाजार, वृन्दावन–281121
दूरध्वनि : 7500987654

शुभाशंसा

"आनन्द प्रस्तुति ऑडिओ विजुअल सेंटर" संस्था गत तीन वर्षों से "**श्री व्यास पूर्णिमा**" के पवित्र पर्व पर "आनन्द सत्सङ्ग पत्रक" पुस्तिका का प्रसाद रूप से वितरण कर, पूज्य महाराजश्री के अलौकिक ज्ञान–भक्ति–कर्म सम्बन्धी उपदेशों के प्रचार–प्रसार में संलग्न है।

"**श्री व्यास पूर्णिमा–2019**" के पावन पर्व पर कल्याण 1941–अंक में प्रकाशित पूज्य महाराजश्री (पं. शन्तनुबिहारी द्विवेदी) का एक लेख– "**नमस्कार मात्र से भगवत्प्राप्ति**" एवं इसके साथ 'आनन्द सत्सङ्ग' का समावेश कर – यह अद्‌भुत 'प्रसाद–पुस्तिका' आपके पास पहुँचाने में कार्यरत 'आनन्द प्रस्तुति' के समस्त सदस्यों को मेरा शुभाशीष!

यद्यपि "**भक्ति सर्वस्व**" ग्रन्थ में, सत्साहित्य प्रकाशन ने, "**नमस्कार मात्र से भगवत्प्राप्ति**" लेख का प्रकाशन किया अवश्य है, किन्तु लेख का शीर्षक बदल कर "**नाम और प्रणाम**" कर दिया गया है।

हमें अपने प्रसाद प्रेमी पाठकों से आशा है कि प्रति वर्ष की भाँति इस वर्ष भी इस '**प्रसाद–पुस्तिका**' में संकलित पूज्य महाराजश्री के लेख एवं उपदेशों को प्रेम एवं लगन पूर्वक पढ़कर अपना जीवन धन्य बनावेंगे।

विनयावनत

सच्चिदानन्द

मङ्गलाचरण

रतिमयि लतिके त्वं राजसे किं रसेन
स्मितसुखसुषमाया रङ्गमङ्गं व्यनक्षि।
स्पृशसि ननु रसालं स्वादसंचारचारु-
र्विमृशसि निजमन्तश्चिच्चमत्कारसारम्।।

'हे प्रेममयी लतिके! क्या तुम प्रेमानन्द में मग्न होकर झूम रही हो? तुम्हारा अंग-प्रत्यंग स्मित एवं सुख-सुषमा का रंगमंच बनकर प्रकट हो रहा है। तुम परम रसमयी होकर दूसरों के हृदय में भी रस-माधुर्य का विस्तार करती रसाल का स्पर्श कर रही हो? क्या तुम अपने रसाल के और सब के हृदय में चित्-चमत्कार नन्दकुमार का अनुसन्धान कर रही हो?'॥

('महाराजश्री' द्वारा रचित 'आत्मोल्लास' में से)

❖ ◆ ❖

नमस्कार मात्र से भगवत्प्राप्ति

नर्मदा का पावन तट। सायङ्कालीन सन्ध्या-वन्दन के पश्चात् का समय। नर्मदा की लहरों में चन्द्रज्योत्स्ना चमक रही है। पक्षियों का कलरव शान्त है। एक सौम्यमूर्ति महात्मा तट के पास ही एक शिलाखण्ड पर बैठकर ध्यान-मग्न हो रहे हैं। शान्ति का साम्राज्य है। इसी समय एक तरुण जिज्ञासु ने आकर उनके चरणों का स्पर्श किया। महात्मा जी की आँखें कुछ खुलीं, मुखपर मन्द-मन्द मुस्कराहट आयी। उन्होंने कहा—'बेटा, शान्ति से बैठ जाओ।' युवक ने आज्ञापालन किया।

क्षणभर ठहरकर महात्माजी ने कहा—'बेटा! बोलो, क्या पूछना चाहते हो?'

जिज्ञासु—'भगवन्! मैं आपकी आज्ञाओं के अतिरिक्त और जानता ही क्या हूँ कि प्रश्न करूँ। मेरे तो लोक-परलोक, ईश्वर-परमेश्वर—सब आप ही हैं। आप सबके सम्मान, सबकी पूजा का उपदेश करते हैं, इसलिये करता हूँ। उनके अस्तित्व और नास्तित्व के आप ही परम प्रमाण हैं। आप जो उचित समझिये, उपदेश कीजिये।'

महात्माजी—'बेटा, तुम्हारा कहना ठीक है। फिर भी जब साधक साधनों में लगता है तब उसके सामने कितनी ही कठिनाइयाँ आती हैं, कितनी ही स्थितियाँ प्राप्त करने की इच्छा होती है। मनको एकाग्र करने की चेष्टा करते ही उसके सामने अनेक प्रकार के लुभावने दृश्य उपस्थित होते हैं। उनके सम्बन्ध में प्रश्न किये बिना काम नहीं चलता। प्रश्न से

मालूम हो जाता है कि यह साधक अन्तर्मुख हो रहा है या नहीं, अथवा इसकी अन्तर्मुखता किस श्रेणी की है। इसके प्रश्न में विवाद, कौतूहल, जिज्ञासा अथवा श्रद्धा का भाव है, इस बात का पता चल जाता है। यदि अधिकार का पता चले बिना ही कोई बात कही जाती है तो वह साधक के चित्तपर बैठती नहीं। ऊँचे अधिकार की बात वह ग्रहण नहीं कर सकेगा और नीचे अधिकार की बात में रुचि नहीं होगी। इसी से शास्त्र में निषेध है कि '**नापृष्ट कस्यचिद् ब्रूयात्**'—'बिना पूछे किसी को न बतलाये।' आजकल लोग वर्षों तक अच्छी-अच्छी बातें सुनते हैं, पढ़ते हैं और कहते हैं; परन्तु अधिकार के अनुरूप न होने के कारण उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये अपनी रुचि, प्रवृत्ति और अधिकार के प्रकाश के लिये अपने हृदय की बात अवश्य पूछनी चाहिये।'

जिज्ञासु—'भगवन्, महात्मालोग तो स्वयं ही सर्वज्ञ और अन्तर्यामी होते हैं। वे बिना पूछे भी सब कुछ जानकर अधिकार के अनुसार उपदेश कर देते हैं।'

महात्माजी—'वैसे तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं परम दयालु परमात्मा सबके हृदय में ही बैठे हुए हैं; परन्तु उनसे भी प्रार्थना करनी पड़ती है, हाथ जोड़कर उनके सामने आत्मनिवेदन करना पड़ता है। यद्यपि वे सबको स्वीकार किये हुए हैं, फिर भी उस स्वीकृति से न जीव के दु:ख की निवृत्ति होती है और न तो सुख-शान्ति का अनुभव ही होता है। **'उन्होंने स्वीकार कर लिया'—इस भाव का उदय आत्मनिवेदन करने के पश्चात् ही होता है।** इसी प्रकार यद्यपि महात्मा पुरुष सबके कल्याण का ही उपदेश किया करते हैं; फिर भी यह उपदेश मेरे लिये है, इस बात का निश्चय प्रश्न से ही होता है। यदि बिना पूछे ही किसी उपदेश

को ऐसा मान लिया जाय कि यह मेरे लिये है तो आगे चलकर यह शङ्का हो सकती है कि 'शायद वह उपदेश मेरे लिये रहा हो या न रहा हो।' **अपने मन की मान्यता पर विश्वास कर लेना खतरे से खाली नहीं है।** क्योंकि मनकी गति अनिश्चित है। इसलिये अपने सम्बन्ध में प्रश्न करके सर्वदा के लिये पक्का निश्चय कर लेना चाहिये। देखो, शास्त्र में यह बात स्पष्ट रूप से आती है कि एक बार भगवन्नाम के उच्चारण, श्रवण अथवा स्मरण से परम पद की प्राप्ति हो जाती है। यथा—

यन्नामैकं कर्णमूलं प्रविष्टं
वाचान्विष्टं चेतनासु स्मृतं वा।
दग्ध्वा पापं शुद्धसत्त्वात्तदेहं
कृत्वा साक्षात् संविधत्तेऽनवद्यम्॥

(सात्वततन्त्र, नवम पटल श्लो० ५८)

'भगवान् के एक नाम के श्रवण, उच्चारण अथवा स्मरण से समस्त पाप भस्म हो जाते हैं, शरीर दिव्य हो जाता है और शुद्ध सच्चिदानन्द-घन परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है, केवल नाम के सम्बन्ध में ही नहीं, नमस्कार के सम्बन्ध में भी ऐसी बात आती है कि जिसने एक बार भी भगवान् को नमस्कार कर लिया, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वेदान्त-शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा जाता है कि आत्मा तो नित्य मुक्त ही है, बद्धता एक भ्रम है। यद्यपि मुक्ति इतनी सरल, सुगम और नित्य प्राप्त है, फिर भी उसके सम्बन्ध में निश्चय न होने के कारण जीव भगवद्विमुख और विषय परायण हो रहा है। यह उसके निश्चय की न्यूनता है। **यह निश्चय स्वयं ही करना पड़ता है। किसी दूसरे के लिये कोई दूसरा निश्चय कर दे, ऐसा नहीं हो सकता। इतना ही साधक का पुरुषार्थ है।** फिर तो उसके

जीवन से साधना की धारा फूट पड़ती है; उसका चलना-फिरना, हँसना-बोलना—सब साधन स्वरूप हो जाता है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, आपने अभी नाम और नमस्कार की महिमा बतलायी है। नामकी महिमा तो कई बार सुनने को मिलती है। आप कृपा करके 'नमः' की महिमा बतलाइये।'

महात्माजी—'वास्तव में नाम और 'नमः' में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही शब्द 'नम् प्रह्वत्वे' धातु से बनते हैं। 'प्रणाम' शब्द में तो 'प्र' उपसर्गयुक्त 'नाम' ही है, और वास्तव में 'नाम' और 'नमः' दोनों ही भगवत्स्वरूप हैं। साधकों की तीन श्रेणियाँ मानी गयी हैं— एक तो वह जो भगवान् से अर्थ, भोग अथवा मोक्ष की प्रार्थना करता है। उसके लिये भगवान् साधन हैं और अर्थादि वस्तु साध्य है। दूसरी श्रेणी के वे हैं जो अर्थ, धर्म, क्रिया, मोक्ष आदि वस्तुओं के द्वारा भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में अन्य सब कुछ साधन है और भगवान् साध्य हैं। ये पहली श्रेणी के साधकों से अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। तीसरी श्रेणी के साधक वे हैं, जो साधन और साध्य दोनों ही रूपों में भगवान् के दर्शन की चेष्टा करते हैं और दर्शन करते हैं। ये साधक तो भगवद्रूप ही हैं। इनमें श्रेष्ठ, कनिष्ठ आदि श्रेणियों का भेद नहीं है। इन्हें शरणागत, भगवत्प्रपन्न आदि नामों से कहा जाता है। वास्तव में भगवान् के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं; इसलिये यह साधना, यह भाव, यह स्थिति भगवान् से सर्वथा अभिन्न है। इसी से 'नाम' और 'नमः' दोनों भगवद्रूप हैं। इस स्थिति में नमस्कर्ता, नमस्कार्य, नमः-शब्द, नमः-क्रिया, नमः-भाव और नमः-का ज्ञान एक ही पदार्थ हैं। और नमस्कार की यही सर्वोत्तम स्थिति है।'

जिज्ञासु—‘भगवन्, नमस्कार का स्वरूप क्या है?’

महात्माजी—‘प्रत्येक शब्द के तीन भाव होते हैं— स्थूल, सूक्ष्म और पर। जहाँ वह शब्द कर्मेन्द्रियों के द्वारा प्रयुक्त होता है अथवा कर्मेन्द्रियों के द्वारा क्रिया में उतरता है, वहाँ उसका स्थूल भाव है। जैसे वाणी से ‘नमस्कार’ कहना, शरीर से दण्डवत् करना। इस क्रिया से अपनी नम्रता प्रकट होती है। जिसको नमस्कार किया जा रहा है वह अवस्था से, जाति से, गुण से श्रेष्ठ है; उसकी श्रेष्ठता और अपनी कनिष्ठता की स्वीकृति ही नमस्कार-क्रिया का स्थूल अर्थ है। इस क्रिया के साथ श्रेष्ठता की सीमा बनी रहती है- ‘यह माता हैं, पिता हैं, गुरु हैं’ इत्यादि। जहाँ यह क्रिया भगवान् के प्रति प्रयुक्त होती है, वहाँ उनकी असीम श्रेष्ठता मनमें आती है। इससे नियोज्य-नियोजकभाव की स्फूर्ति होती है। शरीर, मन और वाणी से उनकी आज्ञा का पालन हो; मेरा रोम-रोम उनके इशारे पर नाचता रहे, उनके अनुकूल क्रिया हो, उनकी सेवा हो, उनके प्रतिकूल अथवा सेवा से रहित कोई भी क्रिया न हो। इस प्रकार नमस्कार-क्रिया के द्वारा अनुकूलता का सङ्कल्प और प्रतिकूलता के वर्जन का भाव दृढ़ होता है। अपनी अल्पज्ञता, अल्पशक्तिता और अल्पसुखता का भान होता है और भगवान् के पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति एवं पूर्ण सुखका चिन्तन होने लगता है। इस समय यही निश्चय होता है कि वे अंशी हैं, मैं अंश; वे शेषी हैं, मैं शेष; वे सेव्य हैं, मैं सेवक। वे ही मेरे रक्षक हैं, हमेशा से रक्षा करते आये हैं और करेंगे। मैं उनकी शरण में हूँ, उनका हूँ। इस प्रकार के भाव का उदय ‘नमः’ शब्द का सूक्ष्म अर्थ है।

‘बेटा! जीव अज्ञान के कारण अनादिकालीन वासना से विजड़ित होकर क्रिया, भावना की प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि में अपने को स्वतन्त्र मानने

लगता है और स्थिति, भाव, क्रिया एवं पदार्थों पर ममत्व कर बैठता है। इसकी निवृत्ति से ही अर्थात् अहङ्कारमूलक स्वातन्त्र्य और ममता के नाश से ही भगवत्प्राप्ति होती है। **'नमः' पद में ममता और अहङ्कार की निवृत्ति ही भरी हुई है।** ये अहङ्कार और ममता मेरे नहीं हैं, इस प्रकार की वृत्ति का उदय होने पर 'नमः' पद के सूक्ष्म अर्थ का साक्षात्कार होता है। 'म' का अर्थ है अहङ्कार और ममता, 'न' का अर्थ है उनका अभाव। नमस्कार का सीधा अर्थ है—'हे प्रभो! **जिन वस्तुओं को भूल से मैं अपनी मानता था, वे तुम्हारी हैं; स्वयं मैं भी तुम्हारा हूँ।**' शास्त्र कहते हैं—

अनादिवासनाजातैर्बोधैस्तैस्तैर्विकल्पितैः।
रूषितं यद्दृढं चित्तं स्वातन्त्र्यस्वत्वधीमयम्॥
तत्तद्वैष्णवसार्वात्म्यप्रतिबोधसमुत्थया।
नम इत्यनया वाचा नन्त्रा स्वस्मादपोह्यते॥

(अहिर्बुध्न्यसंहिता ५२।३०-३१)

अनादिकालीन वासनाओं से भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यावहारिक ज्ञानों का उदय हुआ करता है। उनके दृढ़ संस्कार से चित्त में अपनी स्वतन्त्रता और स्वत्वका भाव जम जाता है। जब सब कुछ भगवान् का ही है— इस प्रकार उस व्यावहारिक ज्ञान का विरोधी पारमार्थिक ज्ञान उदय होता है, तब उसी भाव को लेकर 'नमः' इस पद का उच्चारण होता है। इसके द्वारा नमस्कर्ता अपने पूर्वोक्त दोनों भावों को निकाल फेंकता है। तब नमस्कार का अर्थ क्या है?— अहङ्कार और ममता को निकाल फेंकना। इनके निकलते ही भगवद्भाव की अनुभूति होने लगती है। वह अनुभूति केवल बौद्धिक अथवा मानसिक नहीं रहती, समस्त इन्द्रियों और

रोम-रोम से उसका अनुभव होने लगता है। **तब अपना अन्तःकरण, शरीर एवं सारा जगत् भगवान् का और भगवन्मय दीखता है। यह 'नमः' पद की स्थिति है और यही उसका परम अर्थ है।** तब शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और जीव का जो कुछ वास्तविक स्वरूप है वह भगवत्प्रेरित, भगवन्मय और भगवत्स्वरूप रूप से स्फुरित होने लगता है। भगवान् की कृपा की, प्रेम की, तत्त्वज्ञान की और समाधि की यही स्थिति है। यह 'नमः' पद के उच्चारणमात्र से प्राप्त होती है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, इसके सम्बन्ध में कोई अनुभव सुनाइये?'

महात्माजी—'एक बार मैं अपने गुरुदेव के सम्मुख बैठा हुआ था। मैंने प्रार्थना की—गुरुदेव, आप कहते हैं कि आत्मसमर्पण एक ही बार होता है, वह कैसा आत्मसमर्पण है? वही करवा दीजिये न। गुरुदेव ने कहा—अच्छी बात, करो। संसार की सभी वस्तुएँ भगवान् के चरणों में अर्पित हैं। वे सदा से अर्पित हैं ही। उन्हें अनर्पित समझना अज्ञान था। ये भगवान् की हैं, इस ज्ञान से वह अज्ञान निवृत्त हो गया न? मैंने कहा—निवृत्त हो गया। उन्होंने पूछा-अच्छा, यह शरीर किसका? मैंने कहा—उनका। गुरुदेव ने कहा—अच्छा, यह समझ किसकी? मैंने कहा—मेरी। वे हँसने लगे। उन्होंने कहा—यह समझ भी दे डालो। मैंने कहा—ठीक है। अबतक जो कुछ समझ रहा हूँ या समझूँगा, सब उनकी लीला, सब वे। उन्होंने कहा—इतने से ही आत्मसमर्पण नहीं हुआ। **मैंने समर्पण किया, यह भाव भी छोड़ना होगा। उन्होंने ग्रहण किया, यह भाव भी नहीं बनता।** समर्पण और ग्रहण दोनों ही असमर्पित और अगृहीत वस्तु के सम्बन्ध में होते हैं। भगवान् के लिये वैसी कोई वस्तु नहीं है। तुम्हारे मनमें जो असमर्पित, अगृहीत की भावना थी वह निवृत्त हुई। अब तुमने स्वयं अपने

–आपको भगवान् के चरणों में समर्पित किया। गुरुदेव ने हँसकर कहा—इस समर्पण-क्रिया अथवा भावना का कर्ता कौन है? मैंने कहा—मैं। उन्होंने कहा—तब समर्पण कहाँ हुआ? तुम अपनी की हुई समर्पण-क्रिया अथवा भावना को बदल भी सकते हो? इसलिये 'मैं असमर्पित हूँ' इस अज्ञान की अभी पूर्णत: निवृत्ति नहीं हुई। देखो! तुम, मैं और सब कुछ-जो कुछ था, है और होगा- सब भगवान् को समर्पित है, भगवन्मय है और भगवत्स्वरूप है। **समर्पण-क्रिया अथवा भावना नहीं करनी है। अपनी क्रिया और भावना के कर्तृत्व को मिटा दो। वास्तव में मिटाना भी नहीं है। मिटा हुआ है।** देखो, देखो, तुम्हारा देखना भी तो नहीं है। गुरुदेव इस प्रकार कह रहे थे और मैं एक अनिर्वचनीय स्थिति में प्रवेश करता जा रहा था। मैंने सुख का समुद्र देखा, शान्ति का साम्राज्य देखा और ज्ञान का असीम आलोक देखा। सुख, शान्ति और ज्ञान का नाम तो इस समय की दृष्टि से है। वस्तुत: परमात्मा के स्वरूप में सुख- शान्ति और ज्ञान कहने के लिये भी कुछ नहीं है। वस्तुएँ, क्रियाएँ, इन्द्रियाँ, वृत्तियाँ और उनका अभाव—सब परमात्मा से एक हो गया। वह नमस्कार की वास्तविक स्थिति थी।'

जिज्ञासु—'फिर आपकी वह स्थिति बदली या नहीं? वहाँ से उठने पर गुरुदेव ने क्या आदेश दिया?'

महात्माजी—वह स्थिति तो एकरस है। वह स्मृति-विस्मृति, जीवन-मरण, सबमें एक-सी रहती है। उसमें विक्षेप और समाधि एक हैं। वह कुछ भी नहीं है और वही सब कुछ है। थोड़ी देर के बाद जब मुझे बाह्य ज्ञान हुआ, तब गुरुदेव ने कहा—जाओ; अब तुम अपने जीवन के द्वारा,

मन, वाणी और शरीर के द्वारा निरन्तर भगवान् की आराधना, उनके नाम का जप करते रहो। **भगवान् की आराधना क्या है?**

रागाद्यदुष्टं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनं त्रयम्॥

(प्रपन्नपारिजात)

'अन्तःकरण में राग-द्वेष न हो; वाणी में असत्य, कटुता आदि न हो और शरीर से हिंसा आदि न हो। यही भगवान् की आराधना है।' मैं तभी से भगवान् की इच्छा के अनुसार नर्मदातट पर रहता हूँ, उनके इच्छानुसार कृष्ण-कृष्ण का जप करता रहता हूँ। सब ओर भगवान् के ही तो दर्शन हो रहे हैं।'

जिज्ञासु—'भगवन्, मैं तो आपके श्रीचरणों में ही नमस्कार करता हूँ। आपके श्रीचरणों की प्राप्ति ही मेरे लिये भगवत्-प्राप्ति है।' नर्मदा जी अनवरत बह रही थीं, चन्द्रमा आकाश के मध्यभाग की ओर आ रहे थे, लहरें लहरा रही थीं, हवा चल रही थी और जिज्ञासु महात्माजी के चरणों पर गिरकर भगवत्स्पर्श का आनन्द ले रहा था।

❖ ◆ ❖

आनन्द सत्संग – 1

दु:ख उस दिन नहीं आता जिस दिन धन जाता है। वह तो उसी दिन आकर जम जाता है जिस दिन हम बेईमानी के साथ उसे कमाते हैं।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

भोग से योग भी होता है और रोग भी। संयम से करो तो योग और असंयम से करो तो रोग।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

धन बाँटकर गरीब होने वाला शोभायमान – उज्ज्वल होता है। और, धन खोकर गरीब होने वाला दीन–दु:खी होता है।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

धन के पाँच संविभाग :

1. धर्म के लिये
2. यश के लिये
3. धन–वृद्धि के लिये
4. अपने लिये, और
5. अपने कुटुम्बियों के लिये

– यही लोक–परलोक हितकारी मार्ग है।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 2

जब तक अज्ञान है, अविद्या-निवृत्ति नहीं हुई, तब तक यह शरीर खेलने योग्य नहीं है। इससे ऊपर उठो। और, जब अविद्या का ध्वंस हो गया, सब कुछ परमात्मा है- ऐसा बोध हो गया, तो इसी शरीर से जीवन-मुक्ति का आनन्द आता है। सभी क्रियाएँ आत्मक्रीड़ा हो जाती हैं। अघासुर की मृत्यु के अनन्तर उसका वह शरीर श्रीकृष्ण और उनके साथियों का क्रीड़ा स्थान बन गया था।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

बन्धन काटने की रीति यह है कि पहले स्थूल बन्धन काटे जायँ और फिर क्रमशः सूक्ष्म की ओर बढ़ा जाय। पहले विषय-वस्तुओं में से सम्बन्ध – मेरापन दूर किया जाये। यह विवेक से होता है। जो लोग पहले अविद्या दूर करने चलते हैं, उनकी स्थिति विचित्र बन जाती है। ऐसे साधु जूता तो सी लेंगे, पर भगवान् की पूजा नहीं करेंगे। आसक्ति गयी नहीं, राग-द्वेष बना है, मैं-मेरापन छूटा नहीं तो केवल वाचिक ज्ञान का घोष करने से तो दु:ख ही बढ़ता है।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 3

किसी स्टेशन से गाना सुनने के लिये रेडिओ की सुई उसके मीटर पर लगानी होती है। यदि सुनाई नहीं पड़ता, तो या तो सुई ठीक स्थान पर नहीं लगी अथवा यंत्र दोषपूर्ण है। इसी प्रकार भगवान् का चिन्तन, ध्यान यदि ठीक–ठीक करना है तो अपने हृदय–रेडिओ की सुई ठीक स्थान पर लगानी होगी। उसमें से अभिमान, राग–द्वेष आदि त्रुटिओं को मिटाना होगा। चित्तवृत्ति का भगवदाकार होना ही सुई का ठीक स्थान पर लगना है।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

रेडिओ वस्तुतः स्वयं नहीं बोलता और न गाता है। कहीं अन्य देश, काल में वक्ता गाता या बोलता है और रेडिओ उसे अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार भगवान् स्वयं ही अपनी लीला, अपने गुण, महापुरुषों के हृदय प्रदेश में बैठकर प्रकट करते हैं। महात्मा का शरीर रेडिओ है, संगीत तो ईश्वर का ही है।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 4

श्रीराधाकृष्ण के रूप में जो प्रेम है, वह अद्‌भुत है। यह भाव–चन्द्रमा आकाश में उदित होने वाले लौकिक चन्द्रमा के समान नहीं है। आकाश का चन्द्रमा तो पन्द्रह दिन बढ़ता है और पन्द्रह दिन घटता है, इसलिये उससे प्रेम–चन्द्रमा की तुलना नहीं की जा सकती। नारायण, जब इस प्रेमचन्द्र की चाँदनी छिटकती है तब इसकी रसवर्षिणी छटा सारे भय को दूर कर देती है। जैसे चाँदनी में अन्धकार नामकी कोई वस्तु नहीं रहती, वैसे ही प्रेम में भय नामकी कोई वस्तु नहीं रहती। आकाश का चन्द्रमा सायंकाल में ही शान्ति का विस्तार करता है; परन्तु रसवर्षी चन्द्रमा श्रीकृष्ण आकाश के चन्द्रमा नहीं हैं। सायंकाल में आकाश के चन्द्रमा का उदय होने पर भी किसी को भय हो सकता है, परन्तु हृदयाकाश में श्रीराधा और श्रीकृष्णचन्द्र के प्रेम का उदय होने पर जीवन में निर्भयता उसी प्रकार आ जाती है जैसे श्रुतियों के वर्णनानुसार तत्त्वज्ञान होने पर आती है।

यह श्रीराधा और नन्दनन्दन का जो अद्‌भुत प्रेमचन्द्र है, भावचन्द्र है, इसकी जय हो– '**अद्वैतं नौमि राधादनुजविजयिनोरद्‌भुतं भावचन्द्रम्।**'

❖ ◆ ❖

आनन्द सत्संग – 5

दूसरों के गुणों का चिन्तन करो, गुण तुम्हारे हो जायेंगे। यदि उनके दुर्गुणों की ओर देखोगे तो वही तुम्हारे हृदय में आ बसेंगे। नारायण, जैसा चिन्तन वैसा चित्त। मनुष्य का मन उसकी आँख और मुख से झाँकता है। इसलिए मन में सद्विचारों को आश्रय दो।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

सांसारिक बातों के लिये झूठ बोलने वाला परमार्थ के लिये भी झूठ बोल सकता है; परन्तु जो कभी किसी अवस्था में भी असत्यभाषण नहीं करता, उसे परमार्थ के लिये भी नहीं करना चाहिये।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

गार्हस्थ्य और परमार्थ, दोनों साथ-साथ चल सकते हैं। यह दोनों धर्म हैं। यह तो दो तरह की सीढ़ियाँ हैं, पड़ाव नहीं। हाँ, अभिमान आये तो अपने से बड़े की ओर देखो। इच्छाएँ सताएँ तो छोटों की ओर देखो। जैसी भी परिस्थिति आये, उसी में सन्तोष करो। अपनी प्रसन्नता वस्तु में मत रखो।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

पारस्परिक प्रेम से सब काम बन जाते हैं। प्रभु की सेवा और प्रसन्नता भी सुलभ हो जाती है। मन में उद्वेग भरा हो तो भगवान् के भजन में भी बाधा पड़ती है। जिसको भी तुम आनन्द दोगे और सेवा करोगे, वह तुम्हारे अनुकूल हो जायेगा। जिद और दबाव से सब काम बिगड़ जाते हैं।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 6

भक्त सोच रहा था– 'भगवान् से क्या प्रार्थना करूँ?'

'प्रभो, मुक्ति दीजिये'– तो क्या वे माँगने पर देते हैं?

'विश्व का दु:ख दूर कीजिये'– तो क्या इसका औचित्य वे नहीं समझते?

'मुझ पर प्रसन्न हो जाइये'– तब क्या वे अप्रसन्न हैं?

अन्त में कहा–

'प्रभो! मैं सब स्थितियों में सन्तुष्ट हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं सम हूँ। अब तो प्रसन्न हो जाइये।'

भगवान्– 'तुम झूठ बोल रहे हो। यदि तुम सब स्थितियों में सम और सन्तुष्ट हो तो तुम्हें मेरी प्रसन्नता की क्या आवश्यकता है?

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

तुम जो कुछ कर रहे हो, जो कुछ बोल रहे हो और जो कुछ सोच रहे हो, सब भगवान् के सामने। तब तुम्हें कितना सावधान रहना चाहिये?

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 7

मुझको एक महात्मा ने बताया था कि देखो, तुम भिक्षा माँगने जाओगे तो किसी घर में भिक्षा मिलेगी और किसी में नहीं मिलेगी। कहीं आदर मिलेगा तो कहीं तिरस्कार मिलेगा। लेकिन इससे तुम भिक्षा माँगना बन्द मत करना। बल्कि जहाँ तिरस्कार मिलता है, वहाँ जरूर जाना। वह एक दिन मना करेगा, दो दिन मना करेगा, तीन दिन मना करेगा, अन्त में एक दिन उसको भिक्षा देनी ही पड़ेगी। इसी तरह जब शास्त्र पढ़ो तो जैसे कोई भिक्षार्थी किसी गृहस्थ के घर जाता है, वैसे ही भिक्षार्थी होकर शास्त्र के पास जाओ। यदि वह एक दिन अर्थ न दे, तुम्हारी बुद्धि का तिरस्कार कर दे तो दूसरे दिन फिर जाओ, तीसरे दिन फिर जाओ। शास्त्र तो बड़ा दयालु है। शास्त्रावच्छिन्न जो चैतन्य है, वह शास्त्र की उपाधि के द्वारा ही अपना अर्थ तुमको दे देगा। डरो मत, बिलकुल मत डरो कि यह बात तुम्हारी समझ में नहीं आती। यदि तुम्हारी समझ में नहीं आती तो किसी–न–किसी की समझ में तो आयी है। फिर तुम्हारी समझ में भी आ जायेगी।

❖ ◆ ❖

आनन्द सत्संग – 8

असल में प्रीति हमारा स्वभाव है और उसको हम बहुत सीमित क्षेत्र में रखते हैं। इसलिए वह प्रीति गन्दी हो जाती है– कभी हमारा राग बन जाती है, कभी मोह बन जाती है, कभी हमको विक्षिप्त कर देती है और कभी मूढ़ बना देती है। इसलिए प्रीति का द्वार खोल देना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि आप प्रीति सबसे कीजिये– माँ से कीजिये, पिता से कीजिये, भाई से कीजिये, पत्नी से कीजिये, पति से कीजिये, परन्तु आपका परम प्रेम तो भगवान् से ही होना चाहिए। औरों से हो प्रेम, परन्तु भगवान् से हो परम प्रेम। ऐसा प्रेम जो सुदृढ़ हो। यह नहीं कि जरा-सी कोई विघ्न-बाधा आयी और वह प्रेम टूट गया। जो टूट जाता है, उसका नाम प्रेम होता ही नहीं है। जो अखण्ड रहे सुदृढ़ रहे उसी का नाम प्रेम होता है। उसका दर्शन तुम्हारे अन्तःकरण में हो रहा है और उस दर्शन के साथ-साथ तुम्हारा तादात्म्य हो रहा है। तादात्म्य होने से भगवद् रस आत्मरस हो जाता है। तब स्वयं भक्त रसरूप हो जाता है।

❖ ◆ ❖

आनन्द सत्संग पत्रक – 9

सच तो यह है कि मनुष्य को अपने ही बारे में ठीक–ठीक धारणा नहीं है कि वह क्या है? वह माँ–बाप का तो बेटा है, नाना–नानी का दौहित्र है, दादा–दादी का पौत्र है, भाई–बहन का भाई है, अपने बेटे का बाप है और पत्नी का पति है। इन सम्बन्धों और मान्यताओं में वह इतना उलझ गया है कि उसमें मनुष्यत्व की जो एकता थी, वह बिलकुल छूट गयी, भूल गयी। मनुष्य की मनुष्यता तो उसको विस्मृत हो गयी, लेकिन ये सब अगणित सम्बन्ध उसके दिमाग में चढ़ बैठे। परिणाम यही हुआ कि आप शरीर और शरीर के सम्बन्धियों की सेवा में तो लग गये लेकिन भगवान् की सेवा भूल गये। इसलिए आप सेवा तो सबकी कीजिये, सेवा से विरत मत होइए, परन्तु सबके रूप में नारायण हैं, भगवान् हैं, परमात्मा हैं, यह मत भूलिये। यदि आप सबमें भगवद्भाव रखेंगे तो आप की सेवा परिच्छिन्न नहीं होगी, कटेगी नहीं। इसलिए आप स्वयं मनुष्य रहकर मनुष्यता का निर्वाह करते हुए जो सबके रूप में असली सम्बन्धी जगत्पिता हैं, उनकी सेवा करते रहिये। सेवा के द्वारा जो आराधना होगी वह भक्ति होगी अन्यथा आपकी सेवा बिखर जायेगी और कभी इधर जायेगी, कभी उधर जायेगी।

हाँ, एक बात और, यदि आप चाहते हैं कि आपके काम से आपका यश बढ़े, आपकी प्रतिष्ठा बढ़े, आपको लोग बड़ा मानें, श्रेष्ठ समझें तो वह आपके अहम् की पूजा हो जाती है। किन्तु यदि आप जन–जन में रहने वाले घट–घटवासी भगवान् को सुख पहुँचाने के लिए अपना कर्तव्य–पालन करते हैं तो वही सबकी सेवा हो जाती है।

❖ ◆ ❖

आनन्द सत्संग – 10

धधकती हुई आग को शीतल मणिखण्ड समझकर उठा लेना जैसे सुख का कारण नहीं हो सकता तथा विष को अमृत समझकर पीना जैसे अमरत्व का कारण नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार स्थूल, जड़ और विनाशी वस्तुओं को सुखकर मानकर अपनाने से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

एक ऐसी सत्ता है जो समस्त परिवर्तनों में सदा एकरस है। एक ऐसा ज्ञान है, जो सम्पूर्ण ज्ञानों का उद्‌गम है, एक ऐसा आनन्द है जिसका निर्वचन मन और वाणी से मौन होकर किया जा सकता है और जिसके आस्वादन में आस्वाद्य और आस्वादक का भेद नहीं रहता, वह मधुराति-मधुर, नित्यनूतन, परम मनोहर परमात्मा ही है। उसे प्राप्त करने में ही जीव के जीवन की पूर्णता है।

याद रखो, तुम परमात्मा की ओर चल रहे हो। रास्ते की चट्टियों पर ही कहीं न लुभा जाना, बीहड़ रास्ते से घबड़ाकर लौटना नहीं। तुम्हारे साथ एक महान् शक्ति है- वह तुम्हारी सतत रक्षा कर रही है।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 11

अपना व्यवहार सबके साथ मधुर रहे। तब भगवान् सोचेंगे- 'चलें, इससे थोड़ी-सी मिठास हम भी ले आयें।' और यदि व्यवहार किसी से कटु और किसी से मृदु हुआ तो प्रभु अपना निश्चय ही बदल देंगे, सोचेंगे, 'क्या जाने, यह कब कड़वा हो जाए।'

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

दुनियां की जानकारी जितनी कम होगी, मन उतना ही हल्का भी रहेगा। संसार भी उसमें कम आयेगा और वह प्रसन्न भी अधिक रहेगा।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

कभी तुमने किसी की निन्दा की है? और उसकी सजा अपने को दी है? नहीं, तो कोई दूसरा तुम्हारी निन्दा करता है तब उसपर कैसी नाराजी और उसे कैसी सजा? वस्तुत: दण्ड देने का अधिकारी वह है जिसने कभी भी कोई अपराध न किया हो।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 12

शरीर आदि अनात्म, असत् पदार्थों में आत्मभाव, सद्भाव और प्रियभाव ही भवरोग का कारण है। इससे निवृत्ति का उपाय है सत्संग और भगवद्चरणारविन्द की प्रेमपूर्वक उपासना।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

प्रियता और सुख वस्तुनिष्ठ नहीं, संस्कारनिष्ठ हैं अर्थात् सुख संस्कारों से आता है, बाह्य विषयों से नहीं। एक ही भोज्य पदार्थ एक व्यक्ति को बहुत स्वादिष्ट लगता है तो दूसरा उससे घृणा करता है।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

काम-क्रोधादि ज्वर बाहर से नहीं, अपने भीतर से ही आते हैं। इसलिये विषयों और व्यक्तियों को दोष मत दो। दोष तो सब अपने ही मन का है, उसे ठीक करो।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

आरुरुक्षु साधक के लिये कर्म आवश्यक तो है; परन्तु वह परहित अथवा परमार्थ, लोकसंग्रह एवं आडम्बर के लिये नहीं, वरन् आत्मशुद्धि की सच्ची भावना से आत्मकल्याण के लिये साधन के रूप में हो।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 13

तुम्हारे चित्त में जो इच्छा उठ रही है, उसकी पूर्ति जीवन के लिए कितनी आवश्यक है? क्या उसके बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता? कम-से-कम इच्छा करो। हो सके तो उसका नाश कर दो। जब तुम्हारी आवश्यकताओं को तुमसे अधिक जानने वाला और उनको पूर्ण करने वाला विद्यमान है, तब तुम क्यों इच्छा करते हो? उसपर विश्वास करो। तनिक सोचो तो उसको तुम्हारे हित का कितना ज्ञान और ध्यान है?

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

देखो, तुम्हारे पास अनावश्यक वस्तुएँ कितनी हैं? उनके बिना यदि संसार के बहुत-से प्राणी दु:खी हैं, तो तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम उन्हें अपने पास रखकर सड़ाओ? उचित तो यह है कि तुम अपनी आवश्यकता का विचार किये बिना ही दूसरों की आवश्यकता पूरी कर दो।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

क्या तुमने आज किसी की कुछ सेवा की है? यदि नहीं तो आज का दिन तुमने खो दिया। यदि किसी की कुछ सेवा की है तो सावधान रहो, मन में कहीं अहंकार न आ जाय! इस विशाल विश्व में तुम्हारा कर्तृत्व कितना छोटा है। यदि इससे अधिक सेवा कर पाते तो क्या उत्तम होता!

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 14

यह जो संसार है, सृष्टि है, एक विश्वात्मा की सत्ता है और सबके अन्तर्यामी प्रभु एक ही हैं। इसलिए सब अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्रेम-पूर्वक उनकी सेवा कर सकते हैं। यही सेवा भक्ति का रूप बन जाती है। कोई भी सेवा छोटी या बड़ी नहीं होती। यदि रसोई बनाने वाला कहे कि झाड़ू लगाने वाले की सेवा कम है और झाड़ू लगाने वाला कहे कि पहरा देने वाले की सेवा कम है, और पहरा देने वाला कहे कि विद्याध्ययन, आविष्कार, प्रयोगादि का काम करने वाले की सेवा कम है तो यह बात झूठी है।

नारायण, सेवा कोई झाड़ू लगाकर भी कर सकता है, कोई रोटी बनाकर भी कर सकता है, कोई कपड़ा बनाकर भी कर सकता है, कोई यंत्रादि से भी कर सकता है, कोई शस्त्रादि के द्वारा रक्षा करके भी कर सकता है। कोई पूजा-पाठ के द्वारा भी कर सकता है और कोई विद्या-दान करके कर सकता है। बल्कि, जरा ध्यान से देखो तो पता चलेगा कि यहाँ तो सारी-की-सारी जड़ चेतन सृष्टि भगवान् की सेवा में लगी हुई है।

❖ ◆ ❖

आनन्द सत्संग – 15

यह बात जान लो और सिद्धान्त रूप से मान लो कि ऐसा एक भी क्षण नहीं हो सकता, जिसमें तुम परमात्मा में स्थित न रह सको, चाहे तुम जिस परिस्थिति में हो, भगवान् तुम्हारे साथ हैं और मुस्कराते हुए तुम्हारी सहिष्णुता एवं धैर्य को देख रहे हैं। क्या उनके सामने तुम क्षुब्ध अथवा विचलित हो सकते हो।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

जो विषमताएँ तुम्हारे सामने हैं– जिनमें तुम उलझ रहे हो, जिनके बारे में तुम अनुभव करते हो कि इनकी जटिलता असीम है– वे कुछ नहीं हैं। तुम परमात्मा के सनातन अंश हो, उनके स्वरूप हो। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो तुम्हें बाँध सके। तुम स्वतंत्रता से – परमात्मा की शक्ति का आश्रय लेकर आगे बढ़ो। सफलता अवश्यम्भावी है।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

ध्यान रहे– जो कुछ तुम देख रहे हो, यह परमात्मा का ही स्वरूप है। तुम्हारे हृदय की मलिनता, अभक्ति अथवा भ्रान्ति से ही यह भिन्न रूप में भास रहा है। इसलिये क्रिया की तो बात ही क्या, संकल्प से भी किसी का तिरस्कार मत करो, जो तुम्हारे सामने आवे, उससे इस प्रकार का व्यवहार करो मानो परमात्मा ही तुम्हारे सामने वेष बदलकर आये हों।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 16

आश्चर्य है कि लोग यह तो सहज ही मान लेते हैं कि मन 'मैं', 'मेरा' और सच्चा है; परन्तु मन में विद्यमान दोषों को छोड़ने के लिये कोई प्रयास, कोई पुरुषार्थ नहीं करते।

बहुत बड़ी विद्या-बुद्धि प्राप्त हो, परन्तु भगवत्तत्त्व का बोध न हो तो वह किसी काम की नहीं। वही विद्या-बुद्धि सच्ची है जो भगवत्तत्त्व का ठीक-ठीक बोध करा दे। भगवत्तत्त्व के वास्तविक बोध का रूप 'स्व' है जो नानात्व की भ्रान्ति को मिटा दे।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

जो कुछ भी आत्मा के अतिरिक्त दीखता है, वह सब माया है। उसकी ओर से दृष्टि हटाकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। मस्त हो जाओ।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

जिन्होंने जगत् का मिथ्यात्व जान लिया, जगत् की दु:खरूपता और हेयता का विचार कर लिया, वे उसकी चमक-दमकने वाली मिथ्या वस्तुओं की ओर कभी आकृष्ट नहीं होते।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 17

हृदय में प्रियतम के रहते हुए दूसरों से उलझे रहना, अपने प्रियतम के प्रति अशिष्टता है। जैसे कोई आदमी हमारे घर आये और हम अपने ही काम में लगे रहें तो यह आने वाले के प्रति अशिष्टता हुई या नहीं ?

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

प्रेमी प्रियतम की बुद्धि, भावना और क्रिया को अपनी बुद्धि की तुला पर तौलता नहीं, अपने प्रेम को भी तुलनात्मक समालोचना की कसौटी पर नहीं कसता– यह तो परचिन्तन है। सर्वदा ही प्रियतम के व्यवहार की व्याख्या करता है। प्रेमी ही सर्वोत्कृष्ट कथावाचक है।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

प्रभु ! मैं जो कुछ कभी था, हूँ और होऊँगा– सब तेरा हूँ। यह शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि सब तेरे हैं। प्रभु, यह 'मैं' कभी अपने को तुमसे अलग न मान बैठे। बस, तू–ही–तू रहे।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 18

जो लोग दूसरों को सुनाने के लिये अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन करते हैं, उनके हृदय में अध्यात्मशास्त्र का रहस्य प्रकट नहीं होता। वह उन्हीं के हृदय में प्रकट होता है, जो अपने लिये उसका अध्ययन करते हैं।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

सुनाने का सुख राजस सुख है। दूसरों ने बड़े प्रेम से सुना, श्रोताओं को खूब आनन्द आया। लोग खूब तन्मय होकर सुनते रहे। बड़ी प्रशंसा हुई। इस प्रकार वक्ता में जो आनन्द आया, वह राजस सुख है। इससे उसका अहंकार बढ़ा। सात्विक आनन्द एकान्त में अपने अन्तर के भाव से आता है।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

सत्पुरुष को चाहिये कि वह सामने वाले व्यक्ति की वह बात स्वीकार कर ले, जिसे स्वीकार करने में धर्म की हानि न होती हो। लोभ, कष्ट का भय अथवा अहंकार के कारण ही सामान्य जन दूसरों की बात नहीं मानना चाहते; किन्तु सत्पुरुष में ये दुर्बलताएँ नहीं होतीं।

❖◆❖

आनन्द सत्संग – 19

धन के लिए सेठ की पूजा, ईश्वर की नहीं, धन की पूजा है। स्त्री को 'प्राणेश्वरी, हृदयेश्वरी' कहना उसके रूप की, काम की पूजा है। किसी के दोष भी गुण दीखना, राग वश उसे ही पूर्ण मानना ईश्वर की नहीं, मोह की पूजा है। अपने को सर्वश्रेष्ठ मानकर दूसरों को हेय समझना, तिरस्कार करना अपने अहं की पूजा है।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

जीव के जीवन में चार सबसे बड़े बन्धन हैं– अज्ञान, अनैश्वर्य, अवैराग्य और अधर्म। ये बन्धन ही उसके दु:ख के कारण हैं। अज्ञान को ज्ञान से, शरणागति द्वारा अनैश्वर्य को, भक्ति से अवैराग्य को और धर्म से अधर्म रूप बन्धन को काटो और सुखी हो जाओ।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

जो जितना अधिक निर्वासन होगा, उसे भगवद्-भजन, भगवन्नाम का उतना ही अधिक रस, आनन्द आयेगा। संसार के पदार्थों में मन अटका रहे तो नाम-जप, कीर्तन आदि से संसार ही मिलेगा, भगवान् नहीं। भजन का नियम यह है कि निर्वासन होकर करने से भगवान् मिलते हैं। वासना युक्त भजन विलम्ब से चित्त शुद्ध करता है।

◆❖◆❖◆❖◆❖◆

निन्दा की परवाह न करना बहादुरी हो सकती है; परन्तु स्तुति का मीठा जहर पचा लेना उससे भी बड़ी बहादुरी है।

❖◆❖